सूर-सुषमा

H
811.22
Su 77 S

सम्पादक
डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम'

H
811.22
Su 77 S

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सूर-सुषमा

सूर-सुषमा

सम्पादक
डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'
वैदिक शोध संस्थान, कानपुर

शक संवत् १९१८ : सन् १९९७ ई०
हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक
प्रभात शास्त्री
प्रधानमन्त्री,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन; प्रयाग

Library IIAS, Shimla
H 811.22 Su 77 S
00097862

तृतीय संस्करण (सन् १९९७)
प्रतियाँ : ११००
मूल्य : दस रुपये मात्र

H
811.22
Su77S

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 97862
Date. 13/7/2001

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

महाकवि सूरदास जी हिन्दी गीतिकाव्य-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। ब्रजभाषा काव्य को सूर ने जो लालित्य दिया है, उससे हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य-धारा को सर्वप्रियता मिली है। महाकवि सूरदास-प्रणीत कृष्ण-लीला विषयक पदावलियों के कारण ब्रज-भाषा की पद-परम्परा का सर्वतोमुखी विकास हुआ है। स्नातक कक्षाओं के छात्रों के लिए सम्मेलन ने सूर-साहित्य के मर्मी विद्वान् डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' जी से सूर के महत्त्वपूर्ण पदों का एक संकलन सम्पादित करने का निवेदन किया था, जिसे उन्होंने स्वीकार किया था। फलतः 'सूर-सुषमा' के रूप में उनका यह उपादेय संकलन छात्रों एवं काव्य-रसिकों के लिए सम्मेलन ने सन् १९७२ में प्रकाशित किया था। प्रसन्नता की बात है कि सूर-सुषमा का यह तृतीय संस्करण सूर-काव्य के अध्येताओं के अध्ययनार्थ प्रकाशित किया जा रहा।

आशा है, इसके द्वारा सूरदास जी की काव्य-प्रतिभा एवं कृष्ण-काव्य की रस-माधुरी का उचित सम्मान किया जायगा तथा छात्र एवं काव्य रसिकजन इससे अपेक्षित लाभ उठाएँगे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन;
प्रयाग

—डॉ० परमेश्वरदत्त शर्मा
साहित्यमन्त्री

विषय-सूची

		पृष्ठ-संख्या
	भूमिका	१
१.	विनय	१३
२.	बाल-वर्णन	१६
३.	रूप-माधुरी	१९
४.	मुरली	२२
५.	भ्रमर-गीत	२८
	पदानुक्रम	४७

भूमिका

पुष्टिमार्ग और सूरदास

महात्मा सूरदास के तीन ग्रन्थ प्रख्यात हैं और प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन्होंने अन्य ग्रन्थ भी लिखे होंगे परन्तु वे काल के गाल में समा गये। सूरसागर प्रकाशित ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है और सूर की कीर्ति का आधार-स्तम्भ है। इसके प्रारम्भिक स्कन्धों में जो विनय के पद हैं, उनमें से अधिकांश आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व लिखे जा चुके थे। सूरसागर श्रीमद्भागवत की भाँति स्कन्धों में विभाजित है और हरिलीला-गान उसका प्रमुख विषय है। सूरसारावली होली के गान के रूप में लिखी गयी है। उसे सूरसागर की सारसूची भी कहा जाता है। साहित्यलहरी में दृष्टकूट पद हैं जिनमें नायिका भेद और अलंकार विशेषतया निर्दिष्ट हुए हैं। दृष्टकूट के पद सूरसागर में भी हैं। कहा जाता है कि सरदार कवि ने साहित्यलहरी की टीका लिखी थी। इन तीनों ग्रन्थों में पुष्टिमार्ग की पद्धति का अनुसरण है। पुष्टिमार्ग आचार्य वल्लभ की भक्ति-पद्धति का नाम है। आचार्य वल्लभ के मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे अनन्त शक्तियों द्वारा अपनी आत्मा में अन्तर रमण करने से आत्माराम और बाह्य रमण की इच्छा से अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करने पर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनकी नित्य लीला वैकुण्ठ में होती रहती है। गोलोक इसका एक अंश है जो विष्णु के वैकुण्ठ से बहुत ऊपर है।

आचार्य वल्लभ अविकृत परिणामवादी हैं। रामानुज ने जगत् के परिणमन में उपाधि लगाकर उसे विकृत कर दिया है। वे जगत् की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। परन्तु वल्लभ के मत में जगत् का ब्रह्म से केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत् नष्ट नहीं होता। जैसे कुण्डल पिघल कर पुनः स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही जगत् तिरोहित होकर ब्रह्मरूप धारण कर लेता है।

पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह से भक्त भगवान् के आनन्द धाम में प्रवेश करता है।

दार्शनिक क्षेत्र में इनका मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। आचार्य वल्लभ जीव और प्रकृति को ईश्वर का ही रूप समझते हैं। संसार और जगत् में भी उन्होंने भेद किया है। तेरा-मेरा पन संसार है, यह जगत् इससे भिन्न है और ब्रह्म के संदेश से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। जगत् की रचना अथवा आविर्भाव प्रभु की शाश्वत लीला है। प्रभु लीला करना चाहता है। विश्व इसीलिए अस्तित्व में आता है।

पुष्टिमार्ग में भगवान् की यही लीला प्रधान है। हरिलीला के समावेश ने पुष्टिमार्ग के स्वरूप को अन्य सम्प्रदायों से सर्वथा पृथक् कर दिया है। इस हरिलीला का प्रमुख अंग रासलीला है। रास रस शब्द से बना है। अतः पुष्टि-मार्गीय भक्ति को सरस भक्ति भी कहा जाता है। सूरदास रास का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै।
जौ कहौं, कौन मानै, निगम-अगम-कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै, बिनु भाव मैं ये नहीं, भावही माहिं ध्यानहिं बसावै।
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दास-दम्पति भजन-सार गाऊँ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नयन्न दोउ रहैं, नर-देह पाऊँ।।

(सूरसागर, ना० प्र० स० १६२४)

अर्थात् मुझे ऐसी बुद्धि कहाँ प्राप्त है जो इस रास-रस का, हरिलीला का वर्णन कर सकूँ। यदि मैं यह कहूँ कि वेदों के लिए भी यह अगम्य है तो उसे कौन मानेगा? पर मेरा तो निश्चित सिद्धान्त है कि भगवान् की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति इस रास की उपलब्धि नहीं कर सकता। रास का, हरिलीला का भाव प्रेमभाव में निवास करता है। जो प्रेमभाव से भगवान् का भजन करता है, उसे ही वे

प्राप्त होते हैं। प्रेमभाव के विना भगवत्-प्राप्ति असम्भव है। यह प्रेमभाव भी भगवान् की कृपा से ही सुलभ होता है।

जब हम हरिलीला और पुष्टिमार्गीय भक्ति के नवीन रूप की बात कहते हैं तो हमारी निश्चित धारणा इसी तथ्य की ओर रहती है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूरदास वार्ता प्रसंग दो के अन्त में लिखा है—"श्री आचार्य जी महाप्रभु के मार्ग को कहा स्वरूप है, माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह की परम काष्ठा है।" यह सुदृढ़ स्नेह की पराकाष्ठा ज्ञान, कर्म तथा योग तो जहाँ तहाँ, उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती है। सूरदास लिखते हैं—

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायो॥

(सूरसारावली ११०२)

इन पंक्तियों में सूर ने ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनों को भ्रम स्वरूप कहा है। उपासना का अर्थ भक्ति काण्ड है। यदि यह भ्रम है तो सत्य क्या है? सूर कहते हैं यह सत्य, यह तत्त्व लीला के रहस्य को अवगत करना है। सूर को आचार्य वल्लभ ने हरिलीला का यही भेद बतलाया था। हरिलीला के इस तात्त्विक रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर सूर को अन्य समस्त साधन (यहाँ तक कि उपासना भी) भ्रमात्मक प्रतीत होने लगे थे। इसी कारण सूर सब साधनों से हटकर हरिलीला गायन में प्रवृत्त हो गये। अतः पुष्टिमार्ग, पुष्टि भक्ति हरि-लीला केन्द्र के चारों ओर व्याप्त है। यही उसका नवीन रूप है।

तो क्या पुष्टिमार्ग उपासना मार्ग नहीं है? कहते हुए संकोच होता है कि यह उस उपासना का मार्ग नहीं है जिसे सूर ने भ्रम स्वरूप कह दिया है। यह सेवा मार्ग है। सेवा मार्ग दो प्रकार का है—नाम सेवा और स्वरूप सेवा। स्वरूप सेवा तीन प्रकार की है—वित्तजा, तनूजा और मानसी। मानसी दो प्रकार की है—मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय—'सेवया विना नरो न पुष्टिमार्गाधिकारी।' पुष्टिमार्ग में उपासना और भक्ति पृथक्-पृथक् हैं तथा ज्ञान और

कर्म की भाँति उपासना को भक्ति का अंग माना जाता है। आचार्य शंकर, मध्व और रामानुज दोनों को एक ही समझते हैं। साधना-क्रम में पुष्टिमार्गीय आचार्य प्रथम कर्म, फिर उपासना, उसके बाद ज्ञान और अन्त में भक्ति को रखते हैं।

मर्यादामार्गीय सेवा-विधि विधानात्मक अनुष्ठानों से सम्बन्ध रखती है। इसमें सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् पुष्टिमार्गीय अथवा भावात्मक मानसी सेवा का प्रारम्भ होता है। यह विशुद्ध प्रेम पर अवलम्बित होता है। इसी हेतु इसे प्रेम लक्षणा, परा या शुद्ध पुष्टि भक्ति भी कहा जाता है। प्रेम को अनन्यता की कोटि पर पहुँचाने के लिए विरहासक्ति आवश्यक माना गया है। मानसी, सेवा निरोध-रूपा होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। उपासना का जो मार्ग पूर्व से प्रचलित चला आता था, उसका एकान्त अभिनव रूप पुष्टिमार्ग में दृष्टिगोचर हुआ। पूर्व काल की नवधा भक्ति इसमें अभिनव रूप में ही समाविष्ट हुई और वह भी इस पुष्टि की साधन-रूपा बनकर। श्रवण, कीर्तन और स्मरण हरिलीला से सम्बद्ध होकर भगवान् की नाम-लीला-परक क्रियाएँ बन गये। पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन हरि (श्रीकृष्ण) के रूप से सम्बद्ध हो गये।

दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन उन भावों में सम्मिलित हो गये जिन्हें लेकर गोप-गोपिकाएँ प्रभु के आगे लीला निरत होते थे, आत्म-समर्पण करते थे। नारद-भक्तिसूत्र, संख्या ८२ में जिन आसक्तियों का वर्णन है वे भी हरिलीला से सम्बद्ध कर दी गयीं।

इस प्रकार भक्ति का प्रत्येक अंग हरिलीला पर घटा दिया गया। जो बात कुछ सूक्ष्म और सामान्य स्तर में चलती थी, वह स्थूल और विशिष्ट स्वर में कही जाने लगी। आचार्य वल्लभ जैसे सिद्ध योगी ने आर्य जाति की तत्कालीन मानसिक परिस्थिति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करके पुष्टि-भक्ति का जो उपचार चूर्ण तैयार किया, वह जनसाधारण के अधिक निकट, सहज अनुभूतिगम्य और रुचिकर था। भगवान् की सेवा का मार्ग इस रूप में सबके लिए सुगम हो गया।

पुष्टिप्रवाह मर्यादा में जीवों के भेदों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य वल्लभ लिखते हैं—

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥
ते हि द्विविधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रा स्त्रिधा पुनः ।
प्रवाहादि विभेदेन, भगवत्कार्य सिद्धये ॥१४॥

× × ×

पुष्ट्या विमिश्रा सर्वज्ञाः प्रवाहिणः क्रियारताः ।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाति दुर्लभाः ॥१५

पुष्टिमार्ग में जीव भिन्न-भिन्न हैं। उनकी सृष्टि भगवान् की रूपसेवा के लिए हुई है। जो जीव शुद्ध हैं, वे भगवान् की कृपा से उनके प्रेमपात्र बन चुके हैं और अन्यत्र दुर्लभ हैं। मिश्र जीव प्रवाही पुष्ट, मर्यादापुष्ट और पुष्टि नाम से तीन प्रकार के हैं। इन सबकी रचना भगवान् के कार्य की सिद्धि के लिए की गयी है। भगवान् का कार्य है लीला। अतः ये सब उस लीला में भाग लेने वाले हैं, लीला में भाग लेकर प्रभु की सेवा करने वाले हैं। सेवा की यह क्रिया ही पुष्टि-मार्गीय भक्ति है। अतः निःसाधन भक्तों के लिए यह उच्चतम और सरलतम भक्ति मार्ग है।

श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में पुष्टि का लक्षण 'पोषणं तदनुग्रहः' शब्दों द्वारा किया गया है। अर्थात् पुष्टि पोषण है। यह पोषण भगवान् का अनुग्रह है। पुष्टि का तात्पर्य विषय-वासनाओं की तुष्टि नहीं है, क्योंकि वासनाओं का पोषण आध्यात्मिक मार्ग नहीं माना जा सकता। वासनाएँ आध्यात्मिक विकास का पोषण नहीं, शोषण करती हैं। पुष्टिमार्ग आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है।

हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

सर्व साधन-राहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम् ।
फलं वासाधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१॥

×

अनुग्रहेणैव सिद्धिः लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथाविद्याः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ।।२।।

× × ×

सम्बन्धः साधनं यत्र फल-सम्बन्ध एव हि।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ।।१०।।

× × ×

यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
सर्व लीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ।।१५।।

(श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली, पुष्टिमार्गलक्षणानि)

जिस मार्ग में समस्त साधनों की शून्यता प्रभु प्राप्ति में साधन बनती है, साधनजन्य फल ही जहाँ साधन का कार्य करता है, जिस मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही लौकिक तथा वैदिक सिद्धियों का हेतु बन जाता है, जहाँ कोई यत्न नहीं करना पड़ता, जहाँ प्रभु के साथ देहादि का सम्बन्ध ही साधन और फल दोनों बन जाता है; जहाँ भगवान् की समस्त लीलाओं का अनुभव करते हुए वियोग में भी संयोग सुख से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वह पुष्टि-मार्ग है।

आचार्य वल्लभ के कुल में कल्याणराय जी के पुत्र महाप्रभु हरिराय जी सम्वत् १६४७ भाद्रपद कृष्ण पक्ष पंचमी के दिन उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संस्कृत, गुजराती तथा ब्रजभाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। शिक्षा-पत्र इन्होंने संस्कृत पदों में लिखा है जिसकी ब्रजभाषा टीका उनके अनुज श्री गोपेश्वर ने की है। इसमें एक स्थान पर लिखा है—

जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोला आदि वरस दिन के उच्छव, तिनकी अनेक लीलाभाव करि कैं पुष्ट मारग की रीति सों मन लगाइकें करै। तथा नित लीला, खंडिता, मंगल भोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थान, सैन (शयन) पर्यंत, पीछे रासलीला मानादिक जल-थल विहार इत्यादि की भावना कहिये।

इस उद्धरण में भी श्री हरिराय जी ने पुष्टमार्ग को हरिलीला से स्पष्ट रूप में सम्बद्ध किया है। उन्होंने खंडिता, मान, विहार आदि शृंगार तत्त्वों का भी उससे सम्वन्ध स्थापित किया है।

आचार्य वल्लभ ने हरि स्वरूप सेवा का प्रबन्ध श्रीनाथ मन्दिर में नित्य तथा नैमित्तिक आचारों के द्वारा किया था। नित्याचार में आठों प्रहर की सेवा नीचे लिखे अनुसार थी--

सेवा	समय
१—मंगला	प्रात: ५ से ७ तक
२—शृंगार	७ से ८ तक
३—ग्वाल	८ से १० तक
४—राजभोग	१० से १२ तक
५—उत्थापन	सायं ३॥ से ४॥ तक
६—भोग	५ बजे
७—संध्या आरती	६॥ बजे
८—शयन	७ से ८ तक

आठों प्रहर की सेवा में नित्य-क्रम, ऋतु-क्रम तथा उत्सव-क्रम के अनुसार सेवा का आयोजन वदलता रहता था।

इस सेवा में श्रीकृष्ण को सुस्वादु भोग समर्पित करना, स्नेह-सौहार्द आदि द्वारा उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना और वस्त्राभूषणादि से उनका शृंगार करना ही प्रमुख थे।

नैमित्तिक आचारों में षड्ऋतुओं के उत्सव पर्व रक्षाबंधनादि, अवतारों की जयन्तियाँ, हिंडोला, फाग, वसन्त, मकरसंक्रान्ति आदि मन्दिर में मनाये जाते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें और भी अधिक वढ़ा दिया था। महात्मा सूरदास इन नित्य तथा नैमित्तिक आचारों को विषय बना कर पद रचना किया करते थे। इन समस्त आचारों का सम्बन्ध हरिलीला से था। सूरसागर हरि-लीला के ऊपर लिखे गये ऐसे ही गीतों का विशाल संग्रह है।

इस प्रकार सूर ने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का विविध रूपों में वर्णन किया है। यह समस्त लीला-वर्णन जिसमें कहीं श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं, चरितों, चेष्टाओं आदि का उल्लेख है, कहीं पनघट, माखनचोरी, गोदोहन आदि का, कहीं रास, कहीं मिलन और कहीं विरह आदि भावों का वर्णन है, वह ईश्वर भाव को ही लेकर किया गया है और सब भगवान् की सेवा का ही अंग है।

नवधा भक्ति का प्रयोजन था भगवान् के चरण-कमलों में प्रणत होकर शीतलता का अनुभव करना, पर इस पुष्टिमार्गीय भक्ति का लक्ष्य था प्रेम-पूर्ण प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर मस्त रहना और हरिराय जी के शब्दों में गोपियों के भाव का अनुकरण करते हुए भगवान् के अधरामृत का सेवन करना। अतः पुष्टिमार्गीय भक्ति उष्ण भक्ति भी कहलाती है।

भक्ति के जो मर्यादा और पुष्टि दो भेद किये जाते हैं उनमें मर्यादा भक्ति भगवान् के चरणारविन्दों की भक्ति है और पुष्टि-भक्ति प्रभु के मुखारविन्द की भक्ति है। मर्यादा-भक्ति द्वारा नारदादि मुनियों ने श्रवण-कीर्तन द्वारा भगवान् का सुख सम्बन्ध उपलब्ध किया। यह सुलभ है। पुष्टि-भक्ति द्वारा जो स्वयं भगवत्प्रदत्त है, गोपियों ने भगवान् के प्रेम को प्राप्त किया। यह दुर्लभ है। मर्यादा-भक्ति परतंत्र है। पुष्टि-भक्ति स्वतंत्र है। मर्यादा-भक्ति फल की अपेक्षा रखती है, पुष्टि-भक्ति में फल की अपेक्षा नहीं रहती। एक अक्षर ब्रह्म में लय कराती है, तो दूसरों के द्वारा पुरुषोतम लीला में प्रवेश होता है। भगवद् विषयक निरुपाधि स्नेह को सर्वात्मभाव कहते हैं। यही पुरुषोत्तम प्राप्ति का मुख्य कारण है। भागवत के नवम स्कन्ध में वर्णित अम्बरीष की भक्ति मर्यादा-प्रकार की है। दशम् स्कन्ध में निरूपित व्रज सुन्दरी गोपिकाओं की भक्ति पुष्टि प्रकार की है।

आचार्य वल्लभ ने भक्ति को विहिता और अविहिता दो प्रकार की माना है। ब्रह्मसूत्र ३-३-३९ के अणुभाष्य में वे लिखते हैं—भक्तिस्तु विहिता अविहिता च द्विविधा। माहात्म्यज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपाधि स्नेहात्मिका विहिता, अन्यतो अप्राप्तत्वात् कामादि उपाधिजा सा तु अविहिता। एवं उभय

विधाना अपि तस्या मुक्ति साधकत्वम् इत्याह। अर्थात् ईश्वर में माहात्म्य ज्ञान-युत निरुपाधि स्नेह रखना विहिता भक्ति है। कामादि उपाधियों से उत्पन्न भक्ति अविहिता है। दोनों ही मुक्ति की साधिका हैं।

भक्तिवर्धिनी में आचार्य जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्ति मार्ग की तीन स्थितियों को स्वीकार किया है—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। भक्त पहले प्रभु से स्नेह करता है। यह स्नेह धीरे-धीरे आसक्ति में परिणत होता है और आसक्ति अन्त में व्यसन बन जाती है। व्यसन से भक्त प्रेम की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

सिद्धान्त मुक्तावली में आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय भक्ति के लिए परम आराध्यदेव श्रीकृष्ण को ही माना है। श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति के लिए अविचल श्रद्धा, विश्वास और पूर्ण समर्पण भाव ही भक्त का उत्थान कर सकते हैं। पुष्टि-मार्गीय सम्प्रदाय में प्रवेश-संस्कार अर्थात् ब्रह्म सम्बन्ध कराने के समय गुरु, शिष्य को—'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र देता है। यह मंत्र भक्त को सदैव अपने ध्यान में रखना चाहिए। चतुःश्लोकी में आचार्य जी लिखते हैं—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापिकदाचन॥
एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यते।
प्रभुः सर्व समर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥

अर्थात् सर्वदा समस्त भावों से व्रजाधिप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिए। अपना यही धर्म है, अन्य कुछ नहीं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। जो कुछ मेरे लिए कर्तव्य है, उसे वे स्वयं कर देंगे, ऐसा सोचकर निश्चित हो जाना चाहिए। लौकिक एवं वैदिक सभी कर्मों का फल भगवान् को अपने हृदय में स्थापित कर भोग लेता है। अतः सभी भाँति श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणत होकर उनका स्मरण, भजन और कीर्तन करना चाहिए। भगवद्भजन की ओर प्रेरणा देनेवाला गुरु होता है। अतः आचार्य वल्लभ के मत से गुरु की आज्ञा का पालन प्रभु भक्ति का ही अंग समझा जाता है।

पुष्टिमार्ग में भक्ति, पूजा, कीर्तन आदि करने का अधिकार सभी वर्ण वालों को प्राप्त था। सूरदास, परमानन्ददास आदि ब्राह्मण थे; कुम्भनदास क्षत्रिय थे; कृष्णदास कुनबी पटेल थे तथा अन्य अनेक पुष्टिमार्गीय भक्त निम्न वर्ण के थे। भक्ति मार्ग को स्वामी रामानन्द ने जैसे समस्त वर्ण वालों तथा देशी-विदेशी जनों के लिए उन्मुक्त कर दिया था, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और उनके अनुयायियों ने भी। सूरदास के कई पदों में इस वर्ण-शैथिल्य का प्रतिपादन हुआ है।

आश्रम मर्यादा भी पुष्टिमार्ग में भिन्न प्रकार की है। स्मृतियों के अनुशासन को इस सम्बन्ध में अवहेलनीय समझा गया है। पुष्टिमार्ग प्रमुख रूप से प्रभु-सेवा को ही महत्त्व देता है। वर्णाश्रम मर्यादा विधि-निषेध पर आधारित है, अतः उसकी मान्यता वर्जित है। भक्त किसी भी वर्ण या जाति का हो और किसी भी अवस्था में हो उसका परमधर्म भगवत्सेवा है। अन्य धर्म या कर्तव्य गौण हैं।

सूरसागर में इस सेवा-मूला, प्रेम-परा हरिलीला का ही वर्णन अधिक मात्रा में हुआ है। हरिलीला में भगवान् श्रीकृष्ण और सखाओं को विशेष महत्त्व दिया गया है।

सूर वर्णित हरिलीला जहाँ लोकभाषा में संसार की व्यावहारिक बातों और कथाओं पर प्रकाश डालती है, वहाँ समाधि भाषा के द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण करती है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में दोनों एक-दूसरे के प्रतिविम्ब हैं। शुद्धाद्वैतवादी की दृष्टि में खंडिता नायिका का वर्णन भक्त के उस स्वरूप का उद्‌घाटन करता है जिसमें वह अन्य भक्तों की सुगति प्राप्ति से होड़ कर रहा है। 'हे हरि क्यों न हमारे आये', इस पद को हरिलीला के अन्तर्गत किसी गोपी के मुख से कहला दिया जाय तो उसकी वेदना, टीस एवं तड़पन से ओत-प्रोत इस शब्दावली में विरह-व्यथित भक्त की ही चिरंतन पुकार, उसकी क्रन्दन-कातरता सुनायी पड़ने लगेगी।

पुष्टिमार्ग में यह लीला ही वस्तुतः सर्वप्रधान है। इस लीला में भाग लेना ही जीवन का चरम आदर्श था, क्योंकि यही वह कार्य था जिससे भगवत्कृपा

प्राप्त होती थी और जो अन्त में साधन और साध्य को अन्योन्याश्रित कर देती थी। मुक्ति इसके आगे तुच्छ समझी जाती थी। इसी आधार पर कृष्ण भक्तों का कार्य कृष्ण की नित्य एवं नैमित्तिक जीवनचर्या में भाग लेना ही था।

आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का इतना सुन्दर सामञ्जस्य आज तक किसी भी उपासना-मार्ग में नहीं देखा गया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पराधीनता-जन्य दुःखों की विकट अनुभूति से तड़पती हुई आर्य जाति को पुष्टि भक्ति के पोषण द्वारा जीवित रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया। सम्भव है इस पुष्टिमार्गीय चहल-पहल में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव रहा हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की पूजा-पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने में बड़ी सहायता दी। इस आत्मपोषक लोक-विधायक वैभव के समक्ष हमने यवन-वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। सूर द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्गीय भक्तिभावना इसी हेतु प्रवृत्तिमूलक है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, प्रत्युत जीवन के प्रति ज्वलन्त राग है। वह आशा का स्रोत है। इस भक्ति में भक्तों ने अपना सुख-दुःख भगवान् के साथ एक कर दिया है। हरि-लीला में भाग लेना और इस प्रकार अपने प्रभु की सेवा कर उसका प्रेमपात्र होना—यही इस भक्ति का केन्द्रविन्दु था। निवृति-परायणता में भगवान् भक्तों से दूर थे, अनन्त थे, असीम थे, निर्गुण थे, पर इस भक्ति ने उन्हें शान्त, ससीम, सगुण बनाकर घर-घर में, आँगन-आँगन में रममाण, क्रीड़माण रूप में उपस्थित कर दिया। प्रभु के इस रूप को पाकर भक्त का हृदय आनन्दमग्न हो गया।

सूरसागर में प्रभु के इस रूप का चित्रण अतीव भावविभोरता के साथ हुआ है। सूरसागर का दशम स्कन्ध हरिलीला गायन का केन्द्रविन्दु बन गया है। कृष्णलीला के साथ उसमें रामलीला भी है। भागवत के नवम् स्कन्ध में राम के यशस्वी चरित्र का वर्णन हुआ है। सूरसागर के भी नवम् स्कन्ध में ऐसा ही हुआ है। राम गाथा के भावमय अंश पर सूर का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हुआ है। राम का जीवन कर्मपरायणता का जीवन है। सूर अनुभव करते हैं कि राम के

समीप जाने में सभी भक्तों को संकोच होता है। इस संकोच का कारण है राम का निरन्तर कर्त्तव्य-पालन में निरत रहना। सूर लिखते हैं—

विनती केहि विधि प्रभुहिं सुनाऊँ ?
महाराज रघुवीर धीर कौं समय न कबहूं पाऊँ।।

× × ×

एक उपाय करौ कमलापति कहौं तौ कहि समुझाऊँ।
पतित उधारन नाम सूर प्रभु यह रुक्का पहुँचाऊँ।।

पद में राम की सम्पूर्ण दिनचर्या वर्णित हुई है। राम का यह कर्त्तव्यपरायण रूप जन-जन को अतीत काल से आकर्षित करता रहा है। कृष्ण के जीवन में भी कर्मठता है, परन्तु उसकी ओर भक्तों का ध्यान नहीं गया। कृष्ण के लीलारूप ने ही समाज को सर्वाधिक प्रभावित किया। कृष्ण का लीलारूप अनुरञ्जनकारी होते हुए भी विशुद्ध आध्यात्मिक है। सूरसागर में जो लीला, गोप और गोपियों के साथ हो रही है, वही ब्रह्माण्ड में प्रत्येक सौर-परिवार की लीला है। यही क्यों, वह अणु-अणु में प्रत्यक्ष हो रही है और अध्यात्म में आत्मा को केन्द्र बनाकर इन्द्रिय-मण्डल के रूप में हो रही है। भारतीय साधना और सूर साहित्य में हमने इसका विशेष रूप से विश्लेषण किया है। सूर-काव्य के बाह्य दर्शन के लिए पाठक सूर-सौरभ तथा सूरदास का काव्य वैभव पढ़ें।

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगैं मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सवही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-वानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-विनु निरालंव कित धावै।
सव विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै ॥१॥

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।
जिहिं जिहिं विधि सेवक सुख पावै, तिहिं विधि राखत मन कौं।
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय, पट तन कौं।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत-सँग, औचट गुनि गृह बन कौं।
परम उदार, चतुर चिंतामनि, कोटि कुवेर निधन कौं।
राखत हैं जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन कौं।
संकट परैं तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं।
कोटिक करै एक नहिं मानै सूर महा कृतघन कौं ॥२॥

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप-आगैं दई, लै आइयै चराइ।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ वहुत अमारग जाति।
फिरति वेद-बन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माहँ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाहँ।
निधरक रहै सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलैं लेहु निवेरि ॥३॥

माधौ, नैंकुं हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ-पथ, अगह गहिं नहि जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूं, निगम-द्रुम दलि खाइ।
अष्ट-दस-घट नीर अँचवति, तृषा तउ न बुझाइ।
छहौं रस जौ धरौं आगैं, तउ न गंध सुहाइ।
और अहित अभच्छ भच्छति, कला बरनि न जाइ।
ब्योम, धर, नद, सैल, कानन इते चरि न अघाइ।
नील खुर अरु अरुन लोचन, सेत सींग सुहाइ।
भुवन चौदह खुंरनि खूंदति, सु धौं कहां समाइ।
ढीठ, निठुर, न डरति काहूं, त्रिगुन ह्वै समुहाइ।
हरै खल-बल दनुज-मानव-सुरनि सीस चढ़ाइ।
रचि-विरचि मुख-भौंह-छवि, लै चलति चित्त चुराइ।
नारदादि सुकादि मुनिजन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसैं कृपानिधि, सकत सूर चराइ? ॥४॥

वा पट पीत की फहरानि।
कर धरि चक्र, चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि।
रथ तैं उतरि चलनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि।
मानौ सिंह सैल तैं निकस्यौ, महा मत्त गज जानि।
जिन गोपाल मेरौ प्रन राख्यौ, मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाइ हमारे, निकट भए हैं आनि ॥५॥

जनम सिरानौ अटकैं-अटकैं।
राज-काज, सुत-वित की डोरी, बिनु बिवेक फिर्यौ भटकैं।
कठिन जो गाँठि परी माया की, तोरी जाति न झटकैं।
ना हरि-भक्ति, न साधु-समागम, रह्यौ बीचहीं लटकैं।

ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कैं।
सूरदास सोभा क्यौं पावै, पिय-विहीन धनि मटकैं ॥६॥

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै।
लछमी-सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस ॥७॥

चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना विकसाहिं।
हंस उज्जल पंख निर्मल, अंग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।
पदुम-वास सुगंध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं, जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन, पर भौंरहू बिरमाहिं।
देखि नीर जु छिलछिलौ जग, समुझि कछु मन माहिं।
सूर क्यौं नहिं चलै उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं ॥८॥

भृंगी री, भजि स्याम-कमल-पद, जहाँ न निसि कौ त्रास।
जहँ विधु भानु समान, एक रस, सो बारिज सुख-रास।
जहँ किंजल्क भक्ति नव-लच्छन, काम-ज्ञान रस एक।

निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि जन भृंग अनेक ।
सिव-बिरंचि खंजन मनरंजन, छिन-छिन करत प्रवेस ।
अखिल कोष तहँ भर्यौ सुकृत-जल, प्रगटित स्याम-दिनेस ।
सुनि मधुकरि, भ्रम तजि कुमुदिनि कौ, राजिवबर की आस ।
सूरज प्रेम-सिंधु मैं प्रफुलित, तहँ चलि करै निवास ॥९॥

बाल-वर्णन

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबैं धावत ।
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत ।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत ।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति ।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति ।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति ।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ॥१०॥

सिखवति चलन जसोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया ।
कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनंद भरि लेति बलैया ।
कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया ।
कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति, इहि आँगन खेलौ दोउ भैया ।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नंदरैया ॥११॥

कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी ।
जो मन मैं अभिलाष करति ही, सो देखति नँद-घरनी ।
रुनुक-झुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मन-हरनी ।

बैठि जात पुनि उठत तुरतहीं, सो छवि जाइ न वरनी॥
ब्रज-जुवती सब देखि थकित भईं, सुंदरता की स्रनी।
चिरजीवहु जसुदा कौ नंदन, सूरदास कौं तरनी॥१२॥

जब दधि मथनी टेकि अरै।
आरि करत मटुकी गहि मोहन, वासुकि संभु डरै॥
मंदर डरत, सिंधु पुनि काँपत, फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होइ जनि गहौ मथानी, प्रभु मरजाद टरै॥
सुर अरु असुर ठाढ़े सब चितवत, नैननि नीर ढरै।
सूरदास मन मुग्ध जसोदा, मुख दधि-बिंदु परै॥१३॥

सखि री, नंद-नंदन देखु।
धूरि-धूसर जटा जुटली, हरि किए हर-भेषु॥
नील पाट पिरोइ मनि-गन, फनिग धोखैं जाइ।
खुनखुना कर, हँसत हरि, हर नचत डमरु वजाइ॥
जलज-माल गुपाल पहिरे, कहा कहौं वनाइ।
मुंड-माला मनौ हर-गर, ऐसी सोभा पाइ॥
स्वाति-सुत-माला विराजत, स्याम तन इहिं भाइ।
मनौ गंगा गौरि-डर हर, लई कंठ लगाइ॥
केहरी-नख निरखि हिरदै, रहीं नारि विचारि।
बाल-ससि मनु भाल तैं लै, उर धर्‌यौ त्रिपुरारि॥
देखि अंग अनंग झझक्यौ, नंद-सुत हर जान।
सूर के हिरदै वसौ नित, स्याम-सिव कौ ध्यान॥१४॥

कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी वेनि वढ़ै।
जैसैं देखि और ब्रज वालक, त्यौं वल-वैस चढ़ै॥

यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं त्यौं लयौ लढ़ै।
अँचवत पय तातौ जब लाग्यौ, रोवत जीभि डढ़ै॥
पुनि पीवत हीं कच टकटोरत, झूठहिं जननि रढ़ै।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै॥१५॥

देखौ माई कान्ह हिलकियनि रोवै।
इतनक मुख माखन लपटान्यौ, डरनि आँसुवनि धोवै॥
माखन लागि उलूखल बाँध्यौ, सकल लोग ब्रज जोवै।
निरखि कुरुख उन ब्रालनि की दिसि, लाजनि अँखियनि गोवै॥
ग्वाल कहैं धनि जननि हमारी, सुकर सुरभि नित नोवै।
बरबस ही बैंठारि गोद मैं, धारै बदन निचोवै॥
ग्वालिन कहैं या गोरस कारन, कत सुत की पति खोवै?
आनि देहिं अपने घर तैं हम, चाहति जितौ जसोवै॥
जब-जब बंधन छोर्‌यो चाहति, सूर कहै यह को वै।
मन माधौ-तन, चित गोरस मैं, इहिं बिधि महरि बिलोवै॥१६॥

हरि-मुख देखि हो नंद-नारि।
महरि ऐसे सुभग सुत सौं, इतौ कोह निवारि॥
सरद-मंजुल-जलज-लोचन लोल, चितवनि दीन।
मनहुँ खेलत हैं परस्पर, मकरध्वज, द्वै मीन॥
ललित कन-संजुत कपोलनि लसत कज्जल अंक।
मनहुँ राजत रजनि, पूरन कलापति सकलंक॥
बेगि बंधन छोरि, तन-मन वारि, लै हिय लाइ।
नवल स्याम किसोर ऊपर, सूर जन बलि जाइ॥१७॥

कहा करौं हरि बहुत खिझाई।
सहि न सकी, रिसही रिस भरि गई, बहुतै ढीठ कन्हाई॥

मेरी कह्यौ नैंकु नहिं मानत, करत आपनी टेक।
भोर होत उरहन लै आवति ब्रज की वधू अनेक ॥
फिरत जहाँ तहँ दुंद मचावत, घर न रहत छन एक।
सूर स्याम त्रिभुवन कौ कर्त्ता, जसुमति गही निज टेक ॥१८॥

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बाँधै, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जाने॥
उतपति प्रलय करत हैं येई, सेष सहस मुख सुजस बखाने।
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने॥
असुर संहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव भक्ति के, अति हित जसुमति हाथ बिकाने॥१९॥

रूप-माधुरी

देखि सखी मोहन मन चोरत।
नैन-कटाच्छ बिलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि बिवि मोरत॥
चंदन-खौरि ललाट स्याम कैं, निरखत अति सुखदाई।
मनौ एक सँग गंग-जमुन नभ, तिरछी वार बहाई॥
मलयज भाल भ्रकुटि रेखा की, कबि उपमा इक पाई।
मानहुँ अर्द्धचंद्र-तट अहिनी, सुधा चुरावन आई॥
भ्रकुटि चारु निरखि ब्रज-सुंदरि, यह मन करति बिचार।
सूरदास प्रभु सोभा-सागर, कोउ न पावत पार॥२०॥

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली॥
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।

ज्यौ दामिनि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास ।।
किंधौं तरुन तमाल वेलि चढ़ि, जुग फल बिंब सुपाके ।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके ।।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ ।
मनौ नीलमनि-पुट मुकुता-गन, वंदन भरि बगराइ ।।
किधौं वज्र-कन, लाल-नगनि खँचि, तापर विद्रुम पाँति ।
किधौं सुभग वंधूक-कुसुम-तर, झलकत जल-कन-काँति ।।
किधौं अरुन अंवुज बिच बैठी, सुंदरताई जाइ ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ ।।२१।।

स्याम-हृदय जल-सुत की माला, अतिहिं अनूपम छाजै (री) ।
मनहुँ बलाक-पाँति नव-घन पर, यह उपमा कछु भ्राजै (री) ।।
पीत, हरित, सित, अरुन-माल-वन, राजति हृदय बिसाल(री)।
मानहुँ इन्द्र-धनुष नभ-मंडल, प्रगट भयौ तिहिं काल (री) ।।
भृगु-पद-चिह्न उरस्थल प्रगटे, कौस्तुभ मनि ढिग दरसत(री) ।
बैठे मानौ षट-विधु इक सँग, अर्द्धनिसा मिलि हरसत (री) ।।
भुजा विसाल स्याम सुंदर की, चंदन-खौरि चढ़ाए (री) ।
सूर सुभग अँग-अँग की सोभा, ब्रज-ललना ललचाए (री) ।।२२।।

बनी मोतिनि की माल मनोहर ।
सोभित स्याम-सुभग-उर-ऊपर, मनु गिरितैं सुरसरी धँसी धर ।।
तट भुज दंड, भौंर भृगु-रेखा, चंदन-चित्र तरंग जु सुंदर।
मनि की किरन मीन कुंडल-छवि, मकर मिलन आये त्यागे सर ।।
जग्युपवीत विचित्र सूर सुनि, मध्य धार-धारा जु बनी बर।
संख चक्र गदा पद्म पानि मनु, कमल कूल हंसनि कीन्हें धर।।२३।।

राजति रोम-राजी रेष।
नील घन मनु धूम-धारा, रही सूच्छम सेष ।।
निरखि सुंदर हृदय पर, भृगु-पाद परम सुलेष।
मनहुँ सोभित अभ्र-अंतर, संभु-भूषन वेष ।।
मुक्त-माल नछत्र-गन सम, अर्द्ध चंद्र बिसेष।
सजल उज्जल जलद मलयज, प्रवल बलिनि अलेष ।।
केकि कच सुर-चाप की छवि, दसन तड़ित सुपेष।
सूर प्रभु की निरखि सोभा, तजे नैन निमेष ।।२४।।

स्याम-कमल-पद-नख की सोभा।
जे नख-चंद्र इन्द्र-सिर परसे, सिव विरंचि मन लोभा ।।
जे नख-चंद्र सनक मुनि ध्यावत, नहिं पावत भरमाहीं।
ते नख-चंद्र प्रगट ब्रज-जुवती, निरखि-निरखि हरषाहीं ।।
जे नख-चंद्र फनिक-हृदय तैं, एकौं निमिष न टारत।
जे नख-चंद्र महा मुनि नारद, पलक न कहूँ बिसारत ।।
जे नख-चंद्र-भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति।
सूर स्याम-नख-चंद्र-विमल-छबि गोपी-जन मिलि दरसति ।।२५।।

देखि सखी हरि-अंग अनूप।
जानु जुगल जुग जंघ विराजत, को बरनै यह रूप ।।
लकुटि लपेटि लटकि भये ठाढ़े, एक चरन धर धारे।
मनहुँ नील-मनि-खंभ काम रचि, एक लपेटि सुधारे ।।
कबहुँ लकुट तैं जानु फेरि लै, अपने सहज चलावत।
सूरदास मानहुँ करभा, कर बारंबार डुलावत ।।२६।।

नटवर-वेष काछे स्याम।
पद-कोमल नख-इंदु-सोभा ध्यान पूरन काम ।।

... INSTITUT ... Acc. No. 97862

जानु जंघ सुघटनि करभा, नहीं रंभा-तूल।
पीत पट काछनी मानहुँ, जलज-केसर झूल।।
कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि कैं भीर।
मनहुँ-हंस-रसाल - पंगति, रहे हैं ह्रद - तीर।।
झलक रोमावली - सोभा, ग्रीव मोतिनि हार।
मनहुँ गंगा-बीच जमुना, चली मिलि त्रय धार।।
बाहु दंड विसाल तट दोउ, अंग - चंदन रैनु।
तीर - तरु वनमाल की छवि, ब्रज-जुवति सुख - दैनु।।
चिबुक पर अधरनि, दसन-दुति बिंब बीजु लजाइ।
नासिका सुक, नैन खंजन, कहत कवि सरमाइ।।
स्रवन कुंडल कोटि-रवि-छवि, भृकुटि काम कोदंड।
सूर-प्रभु हैं नीप कैं तर, सीस धरे सिखंड।।२७।।

मुरली

मुरली सुनत देह-गति भूलीं। गोपी प्रेम हिंडोरैं झूलीं।।
कबहूँ चकित होहि सयानी। स्वेद चलै द्रवि जैसैं पानी।।
धीरज धरि इक इकहिं सुनावहिं। इक कहि कै आपुहिं बिसरावहिं।।
कबहूँ सुधि, कबहूँ सुधि नाहीं। कबहूँ मुरली-नाद समाहीं।।
कबहूँ तरुनी सब मिलि बोलैं। कबहूँ रहैं धीर नहिं डोलैं।।
कबहूँ चलैं, कबहुँ फिरि आवैं। कबहुँ लाज तजि लाज लजावैं।।
मुरली स्याम-सुहागिनि भारी। सूरदास-प्रभु की बलिहारी।।२८।।

बंसी बैर परी जु हमारैं।
अधर पियूष अंस सबहिनि कौ, इन पीयौ सब दिन निज न्यारैं।

इक घुनि हरि मन हरति माधुरी, दूजैं बचन हरति अनियारैं।
बाँस बंस हिय वेध महा सठ, अपने छिद्र न जानत गारैं ॥
सौंप्यौ सुपति जानि ब्रज कौ पति, सो अपनाइ लियौ रखवारैं।
सब दिन सही अनीति सूर-प्रभु, श्री गुपाल जिय अपनैं धारैं ॥२६॥

मुरली कैं बस स्याम भए री।
अवरनि तैं नहिं करत निनारी, वाकैं रंग रए री ॥
रहत सदा तन-सुधि बिसराए, कहा करन धौं चाहति।
देखी, सुनी न भई आजु लौं, बाँस बँसुरिया दाहति ॥
स्यामहिं निदरि, निदरि हमहूँ कौं, अबहीं तैं यह रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुँह पाएँ, बोलति बचन अनूप ॥३०॥

मुरली भई स्याम-तन-मन-धन।
अब वाकौं तुम दूरि करावति, जाके बस्य भए नन्द-नन्दन ॥
कबहुँ अधर, कबहुँ राखत कर, कबहूँ गावत हैं हिरदैं धरि।
कबहुँ बजाइ मगन आपुन ह्वै, लटकि रहत मुख धरि तापर ढरि ॥
ऐसे पगे रहत हैं जासौं, ताहि करति कैसैं तुम न्यारी।
सूर स्याम हम सबनि बिसारी, वह कैसैं अब जाति बिसारी ॥३१॥

मुरली हम कहँ सौति भई।
नैंकु न होति अधर तैं न्यारी, जैसैं तृषा डई ॥
इहँ अँचवति, उहँ डारति लै-लै, जल थल बननि बई।
जा रस कौं ब्रत करि तनु गार्‌यौ, कीन्ही रई-रई ॥
पुनि-पुनि लेति, सकुच नहिं मानति, कैसी भई दई।
कहा धरै वह बाँस साँस की, आस निरास गई ॥
ऐसी कहूँ गई नहिं देखी, जैसी भई नई।
सूर बचन याके टोना से, सुनत मनोज जई ॥३२॥

सुनहु री मुरली की उतपत्ति।
बन मैं रहति, बाँस कुल याकौ, यह तौ याकी जात्ति ॥
जलधर पिता, धरनि है माता, अवगन कहौं उघारि।
बनहूँ तें याकौ घर न्यारो, निपटहिं जहाँ उजारि॥
इक तैं एक गुननि हैं पूरे, मातु पिता अरु आपु।
नहिं जानियै कौन फल प्रगट्यौ, अतिहीं कृपा प्रताप॥
बिसवासिनि पर काज न जानै, याके कुल कौ धर्म।
सुनहु सूर मेघनि की करनी, अरु धरनी के कर्म॥३३॥

सुनहु, सखी याके कुल-धर्म।
तैसोइ पिता, मातु तैसी, अब देखौ याके कर्म॥
वै बरषत धरनी संपूरन, सर सरिता अवगाह।
चातक सदा निरास रहत है, एक बूँद की चाह॥
धरनी जनम देति सबही कौं, आपुन सदा कुमारी।
उपजत फिरि ताही मैं बिनसत, छोह न कहुँ महतारी॥
ता कुल मैं यह कन्या उपजी, याके गुननि सुनाऊँ।
सूर सुनत सुख होइ तुम्हारैं, मैं कहिकै सुख पाऊँ॥३४॥

सुनि सजनी यह साँची बानी, बारेंहिं तैं नगधर कहवायौ।
धन्य धन्य कवि, ता पितु माता, जिन कहि-कहि उपमा यह गायौ॥
इंदु बदन, तन स्याम सुभग घन, तड़ित बसन सति भाव बतायौ।
अलक भृंग पटतर कौं साँचे, कर मुख चरन कमल करि गायौ॥
ये उपमा इनहीं कौं छाजैं, अब मुरली अधरनि परसायौ।
सूर अंस यह आहि हमारौ, मुरली सबै अकेली पायौ॥३५॥

इहिं मुरली कछु भलौ न कीनौ।
अधर-सुधा-रस अंस हमारौ, बाँटि-बाँटि सबहिनि कौं दीनौ॥

वीरुध, तृन द्रुम सैल सरिति तट, सींचति है वसुधा मृग मीनौ।
जानैं स्वाद कहा श्री मुख कौ, छूँछौ हियौ सार-बिन हीनौ॥
जा रस कौं कालिंदी कैं तट, पूजत गौरि भयौ तन छीनौ।
सूर सुरस इहिं परसि कुटिल-मति, सबहिन कैं देखत हरि लीनौ॥३६॥

सखी री माधोहिं दोष न दीजै।
जो कछु करि सकियै सोई सब, या मुरली कौं कीजै॥
बार बार बन बोलि मधुर धुनि, अति प्रतीत उपजाई।
मिलि स्रवननि मन मोहि महा रस, तन की सुधि बिसराई॥
मुख मृदु बचन, कपट उर अंतर, हम यह बात न जानी।
लोक-वेद-कुल छाँड़ि आपनौ, जोइ-जोइ कही सु मानी॥
अजहूँ वहै प्रकृति याकैं जिय, लुब्धक-सँग ज्यौं साधी।
सूरदास क्यौं हूँ करुना मैं, परति नहीं अवराधी॥३७॥

मुरली हरि कौं नाच नचावति।
एते पर यह बाँस-बँसुरिया, नंद-नंदन कौं भावति॥
ठाढ़े रहत बस्य ऐसे ह्वै, सकुचत बोलत बात।
वह निदरे आज्ञा करवावति, नैंकुँहुँ नाहिं लजात॥
जब जानति आधीन भए हैं, देखति ग्रीव नवावत।
पौढ़ति अधर, चलित कर-पल्लव, रंध्र-चरन पलुटावत॥
हम पर रिस करि-करि अवलोकत, नासा-पुट फरकावत।
सूर-स्याम जब-जब रीझत हैं, तब-तब सीस डुलावत॥३८॥

मुरली मोहिं लिये गोपाल।
बस करि आपु अधर-रस अँचवति, करि पाए हरि ख्याल॥

सर्वस अधर-सुधा-रस सबकौ, कोउ देखन नहिं पावति।
आपुहि पियति अघाति न तौहूँ, पुनि-पुनि लोभ बढ़ावति॥
दुहुँ कर बैठि गर्व सौं गरजति, बादति सुनति न बात।
जो कुल-दही डरै सो कौनैं, अतिहि निर्दयी गात॥
बारे तैं तप कियौ जौन हित, सो गँवाइ पछितानी।
सूरदास बन-ब्याधि माँझ-घर, देखि-देखि अकुलानी॥३९॥

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु?
पूछहु जाइ स्याम सुंदर कौं, जिहिं दुख जर्‍यो सनेहु॥
जन्मत ही तैं भई बिरत चित, तज्यौ गाउँ, गुन नेहु।
एकहि पाउँ रही हौं ठाढ़ी, हिम-ग्रीषम-ऋतु मेहु॥
तज्यौ मूल साखा-सुपत्र सब, सोच सुखानी देहु।
अगिनि सुलाकत मुर्‍यौ न तन मन, बिकट बनावत बेहु॥
बकतीं कहा बाँसुरी कहि-कहि, करि-करि तापस तेहु।
सूर स्याम इहिं भाँति रिझै, किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु॥४०॥

जब सुनिहौ करतूति हमारी।
तब मन-मन तुमहीं पछितैहौ, बृथा दई हम याकौं गारी॥
तुम तप किनौ सुन्यौ मैं कोऊ, रिस पावहुगी और कहारी।
मो समान तप तुम नहिं कीन्हौ, सुनहु करौ जनि सोर बृथा री॥
मैं कह कहौं, सुनौगी तुमहीं, जगत-बिदित यह बात हमारी।
सूर स्याम आपुन ही कहिये, सुनत कहा मुसुकात मुरारी॥४१॥

मैं अपने बल रहति स्याम सँग, तुम काहैं दुख पावति री।
मो पर रिस पावति हौ पुनि-पुनि, कछु, काहूँहिं बतरावति री॥
तुमहुँ करौ सुख, मैं बरजति हौं, ऐसेहि सोर लगावति री!

कहा करौं मोहिं स्याम निवाजी, काहैं न दूरि करावति री ।।
वृथा बैर तुम करति निसादिव, आछी जनम गँवावति री ।
सूर सुनहुँ ब्रजनारि सयानी, मूरख ह्वै, समुझावति री ।।४२।।

रिझै लेहु तुमहूँ किन स्यामहिं ।
काहे कौं बकबाद वढ़ावति, सतर होहिँ विनु कामहिँ ।।
मैं अपने तप कौं फल भोगवति, तुमहूँ करि फल लीजौ ।
तव धौं बीच बोलिहै कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ ।।
अपनौ माग नहीं काहू सौं, आपु आपनैं पास ।
जो कछु कहौ सूर के प्रभुकौं, मो पर होति उदास ।।४३।।

स्रम करिहौ जव मेरी सी ।
तब तुम अधर-सुधा-रस बिलसहु, मैं ह्वै रहिहौं चेरी सी ।।
बिना कष्ट यह फल न पाइहौ, जानत हौं अवडेरी सी ।
षट रितु सीत तपनि तन गारौ, वाँस वंसुरिया केरी सी ।।
कहा मौन ह्वै ह्वै जु रही हौ, कहा करति अवसेरी सी ।
सुनहु सूर मैं न्यारी ह्वै हौं, जव देखौ तुम मेरी सी ।।४४।।

मुरली तौ अधरनि पर गाजति ।
कैसैं बैठी दुहूँ करनि चढ़ि, अँगुरी रंध्रनि राजति ।।
स्यामहिं मिलि हम सवनि दिखावति, नैकु नहीं मन लाजति ।
नाद सवाद मोद सौं उपजत, मधुरे-मधुरे बाजति ।।
कबहुँ मौन ह्वै रहति, कबहुँ कछु कहति, रहित नहिं हाजति ।
सूर स्याम वाकौ सुर साजत, वह उनहीं सौं भ्राजति ।।४५।।

सर्वस अधर-सुधा-रस सबकौ, कोउ देखन नहिं पावति।
आपुहिं पियति अघाति न तौहूँ, पुनि-पुनि लोभ बढ़ावति॥
दुहुँ कर बैठि गर्व सौं गरजति, बादति सुनति न बात।
जो कुल-दही डरै सो कौनैं, अतिहि निर्दयी गात॥
बारे तैं तप कियौ जौन हित, सो गँवाइ पछितानी।
सूरदास बन-ब्याधि माँझ-घर, देखि-देखि अकुलानी॥३९॥

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु?
पूछहु जाइ स्याम सुंदर कौं, जिहिं दुख जर्‌यो सनेहु॥
जन्मत ही तैं भई बिरत चित, तज्यौ गाउँ, गुन नेहु।
एकहि पाउँ रही हौं ठाढ़ी, हिम-ग्रीषम-ऋतु मेहु॥
तज्यौ मूल साखा-सुपत्र सब, सोच सुखानी देहु।
अगिनि सुलाकत मुर्‌यौ न तन मन, बिकट बनावत बेहु॥
बकतीं कहा बाँसुरी कहि-कहि, करि-करि तापस तेहु।
सूर स्याम इहिं भाँति रिझै, किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु॥४०॥

जब सुनिहौ करतूति हमारी।
तब मन-मन तुमहीं पछितैहौ, बृथा दई हम याकौं गारी॥
तुम तप किनौ सुन्यौ मैं सोऊ, रिस पावहुगी और कहारी।
मो समान तप तुम नहिं कीन्हौ, सुनहु करौ जनि सोर बृथा री॥
मैं कह कहौं, सुनौगी तुमहीं, जगत-बिदित यह बात हमारी।
सूर स्याम आपुन ही कहिये, सुनत कहा मुसुकात मुरारी॥४१॥

मैं अपने बल रहति स्याम सँग, तुम काहैं दुख पावति री।
मो पर रिस पावति हौ पुनि-पुनि, कछु, काहूँहिं बतरावति री॥
तुमहुँ करौ सुख, मैं बरजति हौं, ऐसेहि सोर लगावति री!

कहा करौं मोहिं स्याम निवाजी, काहूँ न दूरि करावति री ॥
वृथा बैर तुम करति निसादिव, आछी जनम गँवावति री ।
सूर सुनहुँ ब्रजनारि सयानी, मूरख ह्वै, समुझावति री ॥४२॥

रिझै लेहु तुमहूँ किन स्यामहिं ।
काहे कौं बकबाद वढ़ावति, सतर होहिं विनु कामहिं ॥
मैं अपने तप कौ फल भोगवति, तुमहूँ करि फल लीजौ ।
तव धौं बीच वोलिहै कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ ॥
अपनौ माग नहीं काहू सौं, आपु आपनैं पास ।
जो कछु कहौ सूर के प्रभुकौं, मो पर होति उदास ॥४३॥

स्रम करिहौ जव मेरी सी ।
तव तुम अधर-सुधा-रस विलसहु, मैं ह्वै रहिहौं चेरी सी ॥
बिना कष्ट यह फल न पाइहौ, जानत हौं अवडेरी सी ।
षट रितु सीत तपनि तन गारौ, बाँस बंसुरिया केरी सी ॥
कहा मौन ह्वै ह्वै जु रही हौ, कहा करति अवसेरी सी ।
सुनहु सूर मैं न्यारी ह्वै हौं, जव देखौ तुम मेरी सी ॥४४॥

मुरली तौ अधरनि पर गाजति ।
कैसैं बैठी दुहूँ करनि चढ़ि, अँगुरी रंध्रनि राजति ॥
स्यामहिं मिलि हम सवनि दिखावति, नैकु नहीं मन लाजति ।
नाद सवाद मोद सौं उपजत, मधुरे-मधुरे बाजति ॥
कबहुं मौन ह्वै रहति, कवहुँ कछु कहति, रहित नहिं हाजति ।
सूर स्याम वाकौ सुर साजत, वह उनहीं सौं भ्राजति ॥४५॥

मुरली सौं अब प्रीति करौ री।
मेरी कही मानि मन राखौ, उर-रिस दूरि धरौ री॥
तुमहिं सुनीं मुरली की बातैं, दीन होइ बतरानी।
काहैं न ढरैं स्याम ता ऊपर, क्यौं न होइ पटरानी॥
हम जान्यौ यह गर्व भरी है, साधु न यातैं और।
रिझै लियौ हरि कौं तप कैं बल, बृथा करौ तुम सोर॥
सूर स्याम बहुनायक सजनी, यहौ मिली इक आइ।
तुम अपने जौ नेम रहौगी, नेम न करतैं जाइ॥४६॥

मुरली स्याम बजावन दै री।
श्रवननि सुधा पियत काहैं नहिं, इहिं तू जनि बरजै री॥
सुनति नहीं वह कहति कहा है, राधा राधा नाम।
तू जानति हरि भूलि गए मोंहि, तुम एकै पति बाम॥
वाही कैं मुख नाम धरावत, हमहिं मिलावत ताहि।
सूर स्याम हमकौं नहिं बिसरे, तुम डरपति हौ काहि॥४७॥

भ्रमर-गीत

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े॥
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखैं ते राँड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े॥
कहु षट्पद कैसैं खैयतु है, हाथिन कैं संग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भषि, बिना दूध घृत माँड़े॥
काहे कौं झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनौ नहिं उपजत, धनियाँ, धान, कुम्हाँड़े॥४८॥

हमतौ दुहूँ भाँति फल पायौ।
जौ गोपाल मिलैं तौ नीकौ, नतरु जगत जस छायौ॥
कहँ हम या गोकुल की गोपी, बरनहीन घटि जाति।
कहँ वै श्री कमला के वल्लभ, मिलि बैठीं इक पाँति॥
निगम ज्ञान मुनि ध्यान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब कहौ देखि धौं, मुक्ति कौन की दासी॥
जोग कथा, ऊधौ पालागौं मति कहौ बारंबार।
सूर स्याम तजि आन भजे जो, ताकीं जननी छार॥४९॥

पूरनता इन नैननि पूरे।
तुम पुनि कहत सुनति हम समुझति, ये ही दुख मरत बिसूरे॥
हरि अन्तरजामी सब बूझत, बुद्धि बिचारि सु बचन समूरे।
वै हरि, रतन रूप-सागर के, क्यौं पाइयै खनावत घूरे॥
रे अलि, चपल मोद-रस लंपट, कटु संदेस कथत कत चूरे।
कहँ मुनि ध्यान कहाँ ब्रजवासिनि, कैसैं जात कुलिस करि चूरे॥
देखि बिचारि प्रगट सरिता सर, सीतल सजल स्वाद रुचि रूरे।
सूर स्वाति की बूँद लगी जिय, चातक चित्त लागत सब झूरे॥५०॥

लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसैं छूटत।
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित, अन्तरगति लूटत॥
वह चितवनि वह चाल मनोहर, वह मुसुकानि मन्द धुनि गावनि।
नटवर-भेष नन्दनन्दन कौ वह विनोद, वह बन तैं आवनि॥
चरन कमल की सौंहैं करति हौं, यह संदेस मोहि विष लागत।
सूरदास पल मोहिं न बिसरति, मोहन मूरति सोवत जागत॥५१॥

विलग जनि मानहु ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओवरी, जे आवैं ते कारे॥

तुम कारे, सुफल्क सुत कारे, कारे कुटिल सँवारे।
कमलनैन की कौन चलावै, सवहिनि मैं मनियारे॥
मानौ नील माट तैं काढ़े, जमुना आइ पखारे।
तातैं स्याम भई कालिंदी, सूरस्याम गुन न्यारे॥५२॥

तुम तौ कहत सदेसौ आनि।
कहा कहैं वा नंदनँदन सौं, होत नहीं हित हानि॥
जुगुति मुकुति किहि काज हमारैं, जदपि महा सुख खानि।
सनी सनेह स्याम सुन्दर सौं, हिलि मिलि कै मन मानि॥
सोहत लोह परसि पारस कौं, ज्यौं सुबरन वर वानि।
पुनि वह कहा चारु चुंबन सौं, लटपटाइ लपटानि?
रूप रहित निरगुन नीरस नित, निगमहु परत न जानि।
सूरदास कौन बिधि तासौं, अब कीजै पहिचानि॥५३॥

अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं।
कैसैं रहति रूप-रस राँची, ये वतियाँ सुनि रूखीं॥
अवधि गनत, इकटक मग जोवत, तव इतनौ नहिं झूखीं।
अब यह जोग सँदेसौ सुनि-सुनि, अति अकुलानी दूखीं॥
वारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सुकत हठि नाव चलावत, ये सरिता हैं सूखी॥५४॥

हरि मुख निरखि निमेष बिसारे।
ता दिन तैं ये भए दिगंवर, इन नैननि के तारे॥
तजी सीख सब सास ससुर की, लाज जनेऊ जारे।
घूँघट घर छाँड़े वन बीथिनि, अहनिसि रहत उघारे॥

सहज समाधि रूप रुचि कारन, टरत न टक तैं टारे।
ताकैं बीच विघन करिबे की, मातु पिता पचि हारे॥
कहत सुनत समुझत मन महियाँ, ऊधौ बचन तुम्हारे।
सूरदास ये हटक न मानत, लोचन हठी हमारे॥५५॥

हमकौं हरि की कथा सुनाउ।
ये आपनी ज्ञान गाथा अलि, मथुरा ही लै जाउ॥
नागरि नारि भलैं समझैं जी, तेरो बचन बनाउ।
पा लागौं ऐसी इन बातनि, उनही जाइ रिझाउ॥
जौ सुचि सखा स्याम सुन्दर कौ, अरु जिय मैं सति भाउ।
तौ बारक आतुर इन नैननि, हरि मुख आनि दिखाउ॥
जौ कोउ कोटि करै कैसिहुँ विधि, बल विद्या व्यवसाउ।
तउ सुनि सूर मीन कौं जल बिनु, नाहिंन और उपाउ॥५६॥

हमारैं हरि हारिल की लकरी।
मनक्रम बचन नंदनन्दन उर, यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जक री।
सुनत जोग लगत है ऐसौ, ज्यौं करुई ककरी॥
सु तौ व्याधि हमकौं लै आए, देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपी, जिनके मन चकरी॥५७॥

निरखति अंक स्याम सुन्दर के, बार-बार लावति लै छाती॥
लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गइ स्याम-स्याम जू की पाती॥
गोकुल बसत नंदनंदन के, कबहुँ बयारि न लागी ताती।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधौ, जब सुनि वेनु नाद सँग जाती॥
उनकैं लाड़ बदति नहिं काहू, निसि-दिन रसिक-राम-रस राती।
प्राननाथ तुम कबहिं मिलौगे, सूरदास-प्रभु बाल-सँघाती॥५८॥

निरगुन कौन देस कौ वासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी ॥
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन, भेष है कैसी, किहिं रस मैं अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ वावरौ, सूर सवै मति नासी ॥५९॥

देन आये ऊधौ मत नीकौ।
आवहु री मिलि सुनहु सयानी, लेहु सुजस कौ टीकौ ॥
तजन कहत अंबर आभूषन, गेह नेह सब ही कौ।
अंग भस्म करि सीस जटा धरि, सिखवत निर्गुन फीकौ ॥
मेरे जान यहै जुवतिनि कौ, देत फिरत दुख पी कौ।
ता सराप तैं भयौ स्याम तन, तउ न गहत डर जी कौ ॥
जाकी प्रकृति परी जिय जैसी, सोच न भली बुरी कौ।
जैसैं सूर व्याल रस चाखैं, मुख नहिं होत अमी कौ ॥६०॥

तब तैं इन सबहिनि सचु पायौ।
जबतैं हरि सन्देस तुम्हारौ, सुनत ताँवरौ आयौ ॥
फूले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेटि भर खायौ।
खोले मृगनि चौक चरननि के, हुतौ जु जिय विसरायौ ॥
ऊँचे बैठि विहंग सभा मैं, सुक वनराइ कहायौ।
किलकि-किलकि कुल सहित आपनैं, कोकिल मंगल गायौ ॥
निकसि कंदराहू तैं केहरि, पूँछ मूड़ पर ल्यायौ।
गहवर तैं गजराज आइकै, अंगहिं गर्व वढ़ायौ ॥
अब जनि गहरु करहु हो मोहन, जो चाहत हौ ज्यायौ।
सूर बहुरि ह्वै है राधा कौं, सब बैरिन कौ भायौ ॥६१॥

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजनि की छाँहीं॥
वै सुरभी वै बच्छ दोहिनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥६२॥

फिरि ब्रज बसौ गोकुलनाथ।
अब न तुमहिं जगाइ पठवैं, गोधननि के साथ॥
बरजैं न माखन खात कबहूँ, दह्यौ देत लुटाइ।
अब न देहि उराहनी, नँद-घरनि आगैं जाइ॥
दावरि देहि नहिं दौरि लकुटी, जसोदा पानि।
चोरी न देहि उघारि कै, औगुन कहिहैं आनि॥
कहिहैं न चरननि देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहैं न करन सिंगार कबहूँ, बसन जमुना-कूल॥
करिहैं न कबहूँ मान हम, हठि हैं न माँगत दान।
कहिहैं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसौं गान॥
देहु दरसन नन्द-नन्दन, मिलन की जिय आस।
सूर हरि के रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥६३॥

ऊधौ जू, कहियौ तुम हरि सौं जाइ, हमारे हिय कौ दरद।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं सोवति, पावक भई जुन्हाई सरद॥
जबतैं लै अक्रूर गए हैं, भई बिरह तन बाय छरद।
काम प्रबल जाके अति ऊधौ, सोचत भइ जस पीत हरद॥

सखा प्रवीन निरन्तर हरि के, तातैं कहित हैं खोलि परद।
व्यावर्ति रूप दरस हरि कौ, सूर मूरि विनु होत मुरद ॥६४॥

ऊधौ जाइ वहुरि सुनि आवहु, कह्यौ जो नन्दकुमार।
यह न होइ उपदेस स्याम कौ, कहत लगावन छार॥
निरगुन जोति कहाँ उन पाई, सिखवत वारम्वार।
काल्हिहिं करत हुते हमरे अँग, अपनैं हाथ सिंगार॥
व्याकुल भईं गोपालहिं विछुरैं, गयौ गुन ज्ञान सँभार।
तातैं जो भावै सो वकत हौ, नाहिन दोष तुम्हार॥
विरह सहन कौं हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार।
सूरदास अन्तरगति मोहन, जीवन प्रान अधार॥६५॥

ऊधौ भली भई व्रज आए।
विधि कुलाल कीन्हें काँचे घट, ते तुम आनि पकाए॥
रंग दीन्हौ हो कान्ह साँवरैं, अँग-अँग चित्र बनाए।
यातैं गरे न नैन नेह तैं, अवधि अटा पर छाए॥
व्रज करि अंवा, जोग इँधन करि, सुरति आनि सुलगाए।
फूंक उसास विरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए॥
भए सँपूरन सकल प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए।
राज काज तैं गए सूर प्रभु, नंदनँदन कर लाए॥६६॥

ऊधौ तुम यह मति लै आए।
इक हम जरति खिझावन आए, मानौ सिखै पठाए॥
तुम उनके वै नाथ तुम्हारे, प्रान एक इक सारे।
मित्र के मित्र सजन के सज्जन, तातैं कहति पुकारे॥

रे सुनि मूढ़ जरति अवलनि कौं, पर दुख तू नहिं जानै।
निपट गँवार होइ जो मूरख, सो तेरी बातैं मानै॥
हम रुचि करी सूर के प्रभु कौं, दूजौ मन न सुहाइ।
उलटि जाहु अपनैं पुर माहीं, वादिहिं करत लराइ॥६७॥

मधुकर काके मीत भए।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गए॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाषंड अग्र दए।
चाँड़ सरैं पहिचानत नाहीं, प्रीतम करत नए॥
मूड़ उचाट मेलि बौराए, मन हरि हरि जू लए।
सूरदास प्रभू धूति-धर्म ढिग, दुख के बीज बये॥६८॥

मधुकर कहाँ पढ़ी यह नीति।
लोक वेद सब ग्रंथ रहित यह, कथा कहत विपरीत॥
जनम भूमि ब्रज सखी राधिका, केहिं अपराध तजी।
अति कुलीन गुन रूप अमित सुख, दासी जाइ भजी॥
जोग समाधि वेद-गुनि मारग, क्यौं समुझैं जु गँवारि।
जो पै गुन अतीत व्यापक है, तौ हम काहैं न्यारि॥
रहि अलि ढीठ कपट स्वारथ हित, तजि वहु बचन बिसेषि।
मन क्रम बचन बचति इहिं नातैं, सूर स्याम तन देखि॥६९॥

मधुकर पीत बदन किहिं हेत।
जनियत है मुख पांडु रोग भयौ, जुवतिनि कौं दुख देत॥
रस-मय तन मन स्याम राम कौ, जो उचरै संकेत।
कमलनयन के बचन सुधा-सम, करन घूंट भरि लेत॥

कुत्सित कटु बायक सायक से, को बोलत रस-खेत।
इनहिं चातुरी लोग बापुरे, कहत धरम की सेत।।
माथे परौ जोग पथ ताकैं, वक्ता छपद समेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु, महिमा जिएँ निकेत।।
मनसा बाचा और कर्मना, स्यामसुन्दर सौं हेत।
सूरदास मन की सब जानत, हमरे मनहिं जितेत।।७०।।

अपने स्वारथ के सब कोऊ।
चुप करि रहौ मधुप रस-लंपट, तुम देखे अरु ओऊ।।
जो कछु कह्यौ कह्यौ चाहत हौ, कहि निरवारौ सोऊ।
अब मेरैं मन ऐसियै षटपद, होनी होउ सु होऊ।।
तब कत रास रच्यौ वृन्दावन, जौ पै ज्ञान हुतोऊ।
लीन्हें जोग फिरत जुवतिनि मैं, बड़े सुपत तुम दोऊ।।
छूटि गयौ मान परेखौ रे अलि, हृदै हुतौ वह जोऊ।।
सूरदास-प्रभु गोकुल बिसर्‌यौ, चित चिंतामनि खोऊ।।७१।।

देखियति कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी।।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी।।
बिगलित कच कुस काँस कूल-पर, पंकजु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।।७२।।

अब कछु औरहिं चाल चली।
मदन गुपाल बिना या ब्रज की, सबै बात बदली।।

गृह कंदरा समान सेज भई, सिंहहु चाहि बली।
सीतल चंद सुतौ सखि कहियत, तातैं अधिक जली।।
मृगमद मलय कपूर कुंकुमा, सींचति आनि अली।
एक न फुरत विरह जुर तैं कछु, लागत नाँहि भली।।
अमृत वेलि सूर के प्रभु विनु, अव विष फलनि फली।
हरि-बिनु विमुख नाँहिनै विगसति, मनसा कुमुद कली।।७३।।

वरु ये वदरौ वरषन आए।
अपनी अवधि जानि नंदनन्दन, गरजि गगन घन छाए।।
कहियत हैं सुर-लोक वसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कैं, तेउ तहाँ तैं धाए।।
द्रुम किए हरित हरषि वेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन सँचि सँचि, पंछिनहूँ मन भाए।।
समुझति नहीं चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुबन बसि बिसराए।।७४।।

ऊधौ बिरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंगकौं, रंग न रसे परै।।
ज्यौं घर दहै वीज अँकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।।
ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख, तौ रवि रथहुँ अरै।
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यौं दुख सुखनि डरै।।७५।।

जौ पै हिरदै माँझ हरी।
तौ कहि इती अवज्ञा उनपै, कैसैं सही परी।।
तब दावानल दहन न पायौ, अब इह बिरह जरी।
उर तैं निकसि नंद-नंदन हम, शीतल क्यौं न करी।।

दिन प्रति नैन इंद्र जल बरषत, घटत न एक घरी।
अतिही सीत भीत तन भींजत, गिरि अंचल न धरी ॥
कर-कंकन दरपन लै देखौ, इहिं अति अनख मरी।
क्यौं अब जियहिं जोग सुनि सूरज, विरहिन बिरह भरी ॥७६॥

ऊधौ हमहिं कहा समुझावहु।
पसु-पंछी सुरभि ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु ॥
त्रिन न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूंढ़त बन-बन डोलैं।
अति कोकिल दै आदि विहंगम, भाँति भयानक बोलैं ॥
जमुना भई स्याम स्यामहिं बिनु, इंदु छीन छय रोगी।
तरुवर पत्र-वसन न सँभारत, बिरह वृच्छ भए जोगी ॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यौं मीन।
सूरदास-प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस मैं लीन ॥७७॥

ऊधौ जौ हरि हितू तुम्हारे।
तौ तुम कहियौ जाय कृपा करि, ए दुख सबै हमारे ॥
तन तरिवर, उर स्वास पवन मैं, विरहु दवा अति जारे।
नहिं सिरात नहिं जात छार ह्वै, सुलगि-सुलगि भए कारे ॥
जद्यपि उमँगि प्रेमजल सींचे, वरषि-वरषि घन हारे।
जौ सींचें इहिं भाँति जतन करि है, तौ एतें प्रतिपारे ॥
कीर कपोत कोकिला चातक, बधिक वियोग बिडारे।
क्यौं जीवैं इहिं भाँति सूर-प्रभु, ब्रज के लोग बिचारे ॥७८॥
तुम्हरे विरह ब्रजनाथ, राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते मान चढ़ी ॥
चलि न सकत गोकुल नौका लौं, सींव पलक बल बोरति।
ऊर्ध्व उसाँस-समीर तरंगनि, तेज तिलक तरु तोरति ॥

कज्जल कीच कुचील किए तट, अंबर अबर कपोल।
रहे पथिक जु जहाँ सु तहाँ थकि, हस्त चरन मुख बोल॥
नाहीं और उपाय रमापति, बिनु दरसन क्यौं जीजै।
आँसु-सलिल बूड़त सब गोकुल, सूर स्वकर गहि लीजै॥७९॥

हमकौं सपनेहू में सोच।
जा दिन तैं बिछुरे नंदनन्दन, ता दिन तैं यह पोच॥
मनु गुपाल आए मेरैं गृह, हँसि करि भुजा गही।
कहा कहौं बैरिनि भइ निद्रा, निमिष न और रही॥
ज्यौं चकई प्रतिबिंब देखि कै, आनंदै पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता, चपल कयौ जल आनि॥८०॥

हरि बिन बैरनि नींद बढ़ी।
हौं अपराधिनि चतुर विधाता, काहैं बनाइ गढ़ी॥
तन मन धन जोबन सुख संपति, बिरहा अनल डढ़ी।
नंदनन्दन कौ रूप निहारति, अह-निसि अटा चढ़ी॥
जिहि गुपाल मेरैं बस होते, सो विद्या न पढ़ी।
सूरदास-प्रभु हरि न मिलैं तो, घर तैं भली मढ़ी॥८१॥

कोउ, माई बरजै री या चंदहिं।
अति हीं क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि कुल आनंदहि॥
कहाँ कहौ बरषा रबि तमचुर कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, बिरहिनि के तन जारै॥
निंदति सैल उदधि पन्नग कौं, श्रीपति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरा देवी कौं, राहु केतु किन जोरहिं॥
ज्यौं जल-हीन मीन तन तलफति, ऐसी गति ब्रजबालहिं।
सूरदास अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिं॥८२॥

आजु घनस्याम की अनुहारि।
आए उनइ साँवरे सजनी, देखि रूप की आरि॥
इंद्र धनुष मनु पीत बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिनि की, चितवत चित्तनि हारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिंद मनु, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के, बिकल भईं ब्रजनारि॥८३॥

हर कौ तिलक हरि बिनु दहत।
वै कहियत उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव सो मोहिं निवहत॥
कत रथ थकित भयौ पच्छिम दिसि, राहु गहनि लौं मोहिं गहत।
छपौ न छीन होत सुनि सजनी, भूमि-भवन-रिपु कहाँ रहत॥
सीतल सिंधु जनम जा केरौ, तरनि तेज होइ कह धौं चहत।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे मिलन विनु, प्रान तजति, यह नाहिं सहत॥८४॥

किते दिन हरि दरसन बिनु बीते।
एक न फुरत स्याम सुंदर बिनु, बिरह सबै सुख जीते॥
मदन गुपाल बैठि कंचन रथ, चित किए तन रीते।
सुफलक-सुत लै गए दगा दै, प्राननिहूँ तैं प्रीते॥
कहि धौं घोष कबहिं आवहिंगे, हरि बलभद्र सहीते।
सूरदास-प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते॥८५॥

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु, इनि नैननि की परतीति गई।
उड़ि न गए हरि संग तबहिं तैं, ह्वै न गए सखि स्याममई॥
रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु वै न भई।
साँचे क्रूर कुटिल ये लोचन, वृथा मीन-छवि छीनि लई॥
अब काहैं जल-मोचत सोचत, समौ गए वै सूल नई।
सूरदास याही तैं जड़ भए, पलकन हूँ हठि दगा दई॥८६॥

केतिक दूरि गयौ रथ माई।
नंद-नंदन के चलत सखी हौं, हरि कौं मिलन न पाई।।
एक दिवस हौं द्वार नंद के, नाहिं रहति बिनु आई।
आजु बिधाता मति मेरी हरी, भवन-काज बिरमाई।।
जब हरि ऐसौ साज करत है, काहु न बात चलाई।
ब्रज हीं बसत बिमुख भइ हरि सौं, सूल न उर तैं जाई।।
सोवत ही सुपने की संपति, रही जियहिं सुखदाई।
सूरदास-प्रभु बिनु ब्रज बसिबौ, एकौ पल न सुहाई।।८७।।
बिनु माधौ राधा तन सजनी, सब बिपरीत भई।
गई छपाइ छपाकर की छबि, रही कलंक मई।।
अलक जु हुती भुवंगम हू सो, बट लट मनहु भई।
तनु-तरु लाइ-बियोग लग्यौ जनु, तनुता सकल हुई।।
अँखियाँ हुतीं कमल पँखुरी सी, सुछबि निचोरि लई।
आँच लगैं च्यौनो सोनो सौं, यौं तनु धातु धई।।
कदली दल सी पीठि मनोहर, मानौ उलटि ठई।
संपति सब हरि हरी सूर-प्रभु, बिपदा देह दई।।८८।।

तुम्हहिं मधुप गोपाल दुहाई।
कबहुँक स्याम करत ह्याँ कौ मन, किधौं प्रीति बिसराई।।
सोई बात कहौं किन साँची, छाँड़ौ दुसह दुराई।
कहि कब हरि आवैंगे ऊधौ, करैं केलि सुखदाई।।
हम अबला, अज्ञान, अल्प मति, बरजत प्रीति लगाई।
करहु कृपा जन सूर आपने, बारक दरस दिखाई।।८९।।

बिरही कहँ लौं आपु सँभारै।
जब तैं गंग परी हरि पग तैं, बहिबो नहीं निवारै।।

नैननि तैं बिछुरे जु भ्रमत है, ससि अजहूँ तन गारैं।
रोम ते बिछुरि, कमल कंटक भए, सिंधु भए जल छारैं ॥
बैंन तैं बिछुरि, अविधि विधिहूँ भई, वेदहिं को निरुवारैं।
सूरदास जे सब अँग बिछुरीं, तिनहिं कौन उपचारैं ॥९०॥

जब लगि ज्ञान हृदै नहिं आवै।
तब लगि कोटि जतन कर कोऊ, बिनु बिवेक नहिं पावै ॥
बिना बिचार सवै सुपनौ सौ, मैं देख्यौ जग जोइ।
नान दारु बसै ज्यौं पावक, प्रगट मथे तैं होइ ॥
तुमहीं कहत सकल घट व्यापक, और सबहिं तैं नियरे।
नख सिख लौं तन जरत निसा दिन, निकसि करत किन सियरे ॥
साँची बात सवै बोलत हौ, मुख मैं मेले तुरसी।
सूर सु औषध हमें बतावहु, पितजुर ऊपर गुरसी ॥९१॥

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गाइनि की अवसेरि मिटावहु, मिलहु आपने ग्वाल ॥
नाचत नहीं मोर ता दिन तैं, रटत न बरषा काल।
मृग दुवरे तुम्हरे दरसन बिनु, सुनत न वेनु रसाल ॥
वृन्दावन ह्यौ होत न भावत, देख्यौ स्याम तमाल।
सूरदास मैया अनाथ है, घर चलियैं नंदलाल ॥९२॥

ऊधौ सूधैं नैंकु निहारौ।
हम अवलनि कौं सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारौ ॥
निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौं, मुक्ति लही हम चारी ॥

हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की ओरै, तुम अलि बड़े अदाई॥
हम मूरख तुम बड़े चतुर हौ, बहुत कहा अब कहिए।
वे ही काज फिरत भटकट कत, अब मारग निज गहिए॥
तुम अज्ञान कतहि उपदेसत, ज्ञान रूप हमहीं।
निसि दिन ध्यान सूर प्रभु कौ अलि, देखत जित ततहीं॥९३॥

मधुवन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले॥
प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधुरिपुहिं सिधारे।
उहाँ कंस ह्याँ हम दीननि कौं, दूनौं काज सँवारे॥
हरि कौ सिखै सिखावन हमकौं, अब ऊधौ पग धारे।
ह्वाँ दासी रति की कीरति कै, इहाँ जोग बिस्तारे॥
अब तिहिं बिरह समुद्र सबै हम, बूड़ीं चहुँतन हीं।
लीला सगुन नाव ही सुनु अलि, तिहिं अवलंब रहीं॥
अब निरगुनहिं गहें जुवतीजन, पारहिं कहा गईं।
सूर अक्रूर छपद के मन मैं, नाहिन त्रास दई॥९४॥

कहा भयौ हरि मथुरा गए।
कहि ऊधौ कैसैं सचु पावत, तन दोउ भाँति भए॥
इहाँ अटक अति प्रेम पुरातन, ह्वाँ निज नेह नए।
ह्वाँ कहियत है राज-काज बस, ह्याँ कर वेनु लए॥
कह गथ हाथ पर्‌यौ सुफलक-सुत, यह ठग ठाठ ठए।
अब क्यौं कान्ह रहत गोकुल बिनु, लोगनि के सिखए॥
राजा राज करत गृह अपनैं, माथैं छत्र दए।
चिरजीवौ अब, सूर नंदसुत, जीजत मुख चितए॥९५॥

ऊधौ मन तौ एकहि आहि।
सो तौ हरि लै संग सिधारे, जोग सिखावत काहि॥
सुनि सठ कुटिल बचन रस लंपट, अबलनि तन धौं चाहि।
अब काहे कौं लोन लगावत, विरह-अनल कैं दाहि॥
परमारथ उपचार कहत हौ, विरह-व्यथा है जाहि।
जाकौं राजरोग कफ व्यापत, दह्यौ खवावत ताहि॥
सुंदर स्याम सलोनी मूरति, पूरि रही हिय माहि।
सूर ताहि तजि निरगुन-सिंधुहि, कौन सकै अवगाहि॥९६॥

ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस॥
इंद्री सिथिल भई केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्याम सुंदर के, सकल जोग के ईस।
सूर हमारैं नंदनंदन बिनु, और नहीं जगदीस॥९७॥

ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल, बिषकीरा बिष खात॥
ज्यौं चकोर कौं देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात?
मधुप करत घर कोरि काठ मैं, बँधत कमल के पास॥
ज्यौं पतंग हित जानि आपनौ, दीपक सौं लपटात।
सूरदास जाकौ मन जासौं, सोई ताहि सुहात॥९८॥

कर कंकन तैं भुज टाड भई।
मधुबन चलत स्याम मन-मोहन, आवन अवधि जु निकट दई॥

पूजत गौरि मनावत संकर, बासर निसि मोहि गनत गई।
पाती लिखत विरह तन व्याकुल, कागर ह्वै गयौ नीर मई ।।
ऊधौ मुख के वचननि कहियौ, हरि की सूल नित-प्रति जु नई।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, मानौ बंसी मीन हई ।।९९।।

कहाँ लौं कहिऐ ब्रज की बात।
सुनहु स्याम तुम बिनु उन लोगनि, जैसैं दिवस बिहात ।।
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत सब, मलिन वदन कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर हेम हत, अंबुजगन बिनु पात ।।
जो कोउ आवत देखि दूरि तैं, उठि पूछत कुसलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर चरननि लपटात ।।
पिक चातक बन बसन न पावत, बायस बलि नहिं खात।
सूर स्याम संदेसनि कैं डर, पथिक न उहिं मग जात ।।१००।।

पदानुक्रम

	छंद-संख्या
अँखियाँ हरि दरसन कौं भूखीं	५४
अपने स्वारथ के सब कोऊ	७१
अब कछु औरहि चाल चली	७३
अबिगत गति कछु कहत न आवै	१
आए जोग सिखावन पाँड़े	४८
आजु घनस्याम की अनुहारि	८३
इहिं मुरली कछु भलौ न कीनौ	३६
ऊधौ जाइ बहुरि सुनि आवहु	६५
ऊधौ जू कहियौ तुम हरि सौं जाइ	६४
ऊधौ जौ हरि हितू तुम्हारे	७८
ऊधौ तुम यह मति लै आए	६७
ऊधौ बिरहौ प्रेम करै	७५
ऊधौ भली भई ब्रज आए	६६
ऊधौ मन तौ एकहि आहि	९६
ऊधौ मन न भए दस बीस	९७
ऊधौ मन मानै की बात	९८
ऊधौ मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं	६२
ऊधौ सूधैं नेकु निहारौ	९३
ऊधौ हमहिं कहा समुझावहु	७७
कजरी कौ पय पियहु लाल	१५
कर कंकन तैं भुज टाड़ भई	९९
कहाँ लौं कहिऐ ब्रज की बात	१००

कहा करौं हरि बहुत खिझाई १८
कहा भयौ हरि मथुरा गए ६५
कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी १२
किते दिन हरि दरसन बिनु बीते ८५
किलकत कान्ह घुटुरुवनि धावत १०
केतिक दूरि गयौ रथ माई ८७
कोउ माई री बरजै या चंदहिं ८२
ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु ४०
चकई री, चलि चरन सरोवर ७
चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं ८
जनम सिरानौ अटकै-अटकैं ६
जब दधि मथनी टेकि अरै १३
जब लगि ज्ञान हृदै नहिं आवै ९१
जब सुनिहौ करतूति हमारी ४१
जौ पै हिरदै माँझ हरी ७६
तब तैं इन सबहिनि सचु पायौ ६१
तुम तौ कहत सँदेसौ आनि ५३
तुमहिं मधुप गोपाल दुहाई ८९
तुम्हरे बिरह ब्रजनाथ ७९
दिन दस घोष चलहु गोपाल ९२
देखियति कालिंदी अति कारी ७२
देखि सखी अधरनि की लाली २१
देखि सखी मोहन मन चोरत २०
देखि सखी हरि-अंग-अनूप २६
देखौ माई कान्ह हिलकियन रोवै १६
देन आए ऊधौ मत नीकौ ६०

नटवर-वेष काछे स्याम	२७
निरखति अंक स्याम सुंदर के	५८
निरखि स्याम हलधर मुसुकाने	१९
निरगुन कौन देस कौ वासी	५९
पूरनता इन नैननि पूरे	५०
फिरि ब्रज वसौ गोकुलनाथ	६३
वंसी वैर परी जु हमारैं	२९
वनी मोतिनि की माल मनोहर	२३
वरु ये वदरौ वरषन आए	७४
विछुरत श्री ब्रजराज आजु सखि	८६
विनु माधो राधा तन सजनी	८८
विरही कहँ लौं आपु सँभारैं	९०
भृंगी री, भजि स्याम-कमल-पद	९
मधुकर कहाँ पढ़ी यह नीति	६९
मधुकर काके मीत भए	६८
मधुकर पीत वदन किहिं हेत	७०
मधुवन सव कृतज्ञ धरमीले	९४
माधौ जू यह मेरी इक गाइ	३
माधौ नैंकु हटकी गाइ	४
मुरली कैं वस स्याम भए री	३०
मुरली तौ अधरनि पर गाजति	४५
मुरली भई स्याम तन-मन-धन	३१
मुरली मोहि लिए गोपाल	३९
मुरली सुनत देह-गति भूलीं	२८
मुरली सौं अव प्रीति करौ री	४६
मुरली स्याम बजावन दै री	४७

मुरली हम कहँ भाँति भई	३२
मुरली हरि कौं नाच नचावति	३८
मैं अपनै बल रहति स्याम संग	४२
राजति रोम-राजी रेष	२४
रिझै लेहु तुमहूँ किन स्यामहिं	४३
लरिकाईं कौ प्रेम कहौ अलि	५१
वा पट पीत की फहरानि	५
बिलगि जनि मानहु ऊधौ कारे	५२
सखि री नंद-नंदन देखु	१४
सखी री माधोंहिं दोष न दीजै	३७
स्रम करिहौ जब मेरी सी	४४
सिखवति चलन जसोदा मैया	११
सुनहु री मुरली की उतपत्ति	३३
सुनहु सखी याके कुल-धर्म	३४
सुनि सजनी यह साँची बानी	३५
स्याम-कमल-पद-नख की सोभा	२५
स्याम-हृदय जल-सुत की माला	२२
हमकौं सपनेहू मैं सोच	८०
हमकौं हरि की कथा सुनाउ	५६
हम तौं दुहूँ भाँति फल पायौ	४९
हमरैं हरि हारिल की लकरी	५७
हर कौ तिलक हरि बिनु दहत	८४
हरि बिनु बैरनि नींद बढ़ी	८१
हरि-मुख देखि हो नँद-नारि	१७
हरि मुख निरखि निमेष बिसारे	५
हरि सौं ठाकुर और न जन कौं	२

Acc. No. 97862
Date 13/7/2000

मुद्रक : सम्मेलन

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

Library IIAS, Shimla
H 811.22 Su 77 S
00097862